गांधीजी की जैन धर्म को देन

धर्म के दो रूप होते हैं। सम्प्रदाय कोई भी हो उसका धर्म बाहरी और भीतरी दो रूपों में चलता रहता है। बाह्य रूप को हम 'धर्म कलेवर' कहें तो भीतरी रूप को 'धर्म चेतना' कहना चाहिए।

धर्म का प्रारम्भ, विकास और प्रचार मनुष्य जाति में ही हुआ है। मनुष्य खुद न केवल चेतन है और न केवल देह। वह जैसे सचेतन देहरूप है वैसे ही उसका धर्म भी चेतनायुक्त कलेवररूप होता है। चेतना की गति, प्रगति और अवगति कलेवर के सहारे के बिना असंभव है। धर्म चेतना भी बाहरी आचार रीति-रस्म, रूढ़ि-प्रणाली आदि कलेवर के द्वारा ही गति, प्रगति और अवगति को प्राप्त होती रहती है।

धर्म जितना पुराना उतने ही उसके कलेवर नानारूप से अधिकाधिक बदलते आते हैं। अगर कोई धर्म जीवित हो तो उसका अर्थ यह भी है कि उसके कैसे भी भद्दे या अच्छे कलेवर में थोड़ा-बहुत चेतना का अंश किसी न किसी रूप में मौजूद है। निष्प्राण देह सड़-गल कर अस्तित्व गँवा बैठती है। चेतनाहीन सम्प्रदाय कलेवर की भी वही गति होती है।

जैन परम्परा का प्राचीन नाम-रूप कुछ भी क्यों न रहा हो; पर वह उस समय से अभी तक जीवित है। जब-जब उसका कलेवर दिखावटी और रोगग्रस्त हुआ है तब-तब उसकी धर्मचेतना का किसी व्यक्ति में विशेषरूप से स्पन्दन प्रकट हुआ है। पार्श्वनाथ के बाद महावीर में स्पन्दन तीव्र रूप से प्रकट हुआ जिसका इतिहास साक्षी है।

धर्मचेतना के मुख्य दो लक्षण हैं जो सभी धर्म-सम्प्रदायों में व्यक्त होते हैं। भले ही उस आविर्भाव में तारतम्य हो। पहला लक्षण है, अन्य का भला करना और दूसरा लक्षण है अन्य का बुरा न करना। ये विधि–निषेधरूप या हकार-नकार रूप साथ ही साथ चलते हैं। एक के सिवाय दूसरे का संभव नहीं। जैसे-जैसे धर्मचेतना का विशेष और उत्कट स्पन्दन वैसे-वैसे ये दोनों विधि निषेध रूप भी अधिकाधिक सक्रिय होते हैं। जैन-परम्परा की ऐतिहासिक भूमिका को हम देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि उसके इतिहास काल से ही धर्मचेतना के उक्त दोनों लक्षण असाधारण रूप में पाये जाते हैं। जैन-परम्परा का ऐति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हासिक पुराना कहता है कि सब का अर्थात् प्राणीमात्र का जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी के अलावा सूक्ष्म कीट जंतु तक का समावेश हो जाता है—सब तरह से भला करो। इसी तरह प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार से तकलीफ न दो। यह पुराना कहता है कि जैन परंपरागत धर्मचेतना की भूमिका प्राथमिक नहीं है। मनुष्य जाति के द्वारा धर्मचेतना का जो क्रमिक विकास हुआ है उसका परिपक्व रूप उस भूमिका में देखा जाता है। ऐसे परिपक्व विचार का श्रेय ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् महावीर को तो अवश्य है ही।

कोई भी सत्पुरुषार्थी और सूक्ष्मदर्शी धर्मपुरुष अपने जीवन में धर्मचेतना का कितना ही स्पंदन क्यों न करे पर वह प्रकट होता है सामयिक और देश-कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा। हम इतिहास से जानते हैं कि महावीर ने सब का भला करना और किसी को तकलीफ न देना इन दो धर्मचेतना के रूपों को अपने जीवन में ठीक-ठीक प्रकट किया। प्रकटीकरण सामयिक जरूरतों के अनुसार मर्यादित रहा। मनुष्य जाति की उस समय और उस देश की निर्बलता, जातिभेद में, छूआछूत में, स्त्री की लाचारी में और यज्ञीय हिंसा में थी। महावीर ने इन्हीं निर्बलताओं का सामना किया। क्योंकि उनकी धर्मचेतना अपने आस-पास प्रवृत्त अन्याय को सह न सकती थी। इसी करुणावृत्ति ने उन्हें अपरिग्रही बनाया। अपरिग्रह भी ऐसा कि जिसमें न घर-बार और न वस्त्रपात्र। इसी करुणावृत्ति ने उन्हें दलित पतित का उद्धार करने को प्रेरित किया। यह तो हुआ महावीर की धर्मचेतना का स्पंदन।

पर उनके बाद यह स्पंदन जरूर मंद हुआ और धर्मचेतना का पोषक धर्म कलेवर बहुत बढ़ते-बढ़ते उस कलेवर का कद और वजन इतना बढ़ा कि कलेवर की पुष्टि और वृद्धि के साथ ही चेतना का स्पंदन मंद होने लगा। जैसे पानी सूखते ही या कम होते ही नीचे की मिट्टी में दरारें पड़ती हैं और मिट्टी एकरूप न रह कर विभक्त हो जाती है वैसे ही जैन परम्परा का धर्मकलेवर भी अनेक टुकड़ों में विभक्त हुआ और वे टुकड़े स्पंदन के मिथ्या अभिमान से प्रेरित होकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। जो धर्मचेतना के स्पंदन का मुख्य काम था वह गौण हो गया और धर्मचेतना की रक्षा के नाम पर वे मुख्यतया गुजारा करने लगे।

धर्म-कलेवर के फिरकों में धर्मचेतना कम होते ही आसपास के विरोधी दलों ने उनके ऊपर बुरा असर डाला। सभी फिरके मुख्य उद्देश्य के बारे में इतने निर्बल साबित हुए कि कोई अपने पूज्य पुरुष महावीर की प्रवृत्ति को योग्य रूपमें आगे न बढ़ा सके। स्त्री-उद्धार की बात करते हुए भी वे स्त्री के अबलापन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पोषक ही रहे। उच्च-नीच भाव और छूआछूत को दूर करने की बात करते हुए भी वे जातिवादी ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव से बच न सके और व्यवहार तथा धर्मक्षेत्र में उच्च-नीच भाव और छूआछूतपने के शिकार बन गये। यज्ञीय हिंसा के प्रभाव से वे जरूर बच गये और पशु-पक्षी की रक्षा में उन्होंने हाथ ठीक ठीक बटाया; पर वे अपरिग्रह के प्राण मूर्छा त्याग को गँवा बैठे। देखने में तो सभी फिरके अपरिग्रही मालूम होते रहे; पर अपरिग्रह का प्राण उनमें कम से कम रहा। इसलिए सभी फिरकों के त्यागी अपरिग्रह व्रत की दुहाई देकर नङ्गे पांव से चलते देखे जाते हैं, लुंचन रूप से बाल तक हाथ से खींच डालते हैं, निर्वसन भाव भी धारण करते देखे जाते हैं, सूक्ष्म-जन्तु की रक्षा के निमित्त मुँह पर कपड़ा तक रख लेते हैं; पर वे अपरिग्रह के पालन में अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसा स्वावलंबी जीवन करीब-करीब गँवा बैठे हैं। उन्हें अपरिग्रह का पालन गृहस्थों की मदद के सिवाय सम्भव नहीं दीखता। फलतः, वे अधिकाधिक पर-परिश्रमावलम्बी हो गए हैं।

बेशक, पिछले ढाई हजार वर्षों में देश के विभिन्न भागों में ऐसे इने-गिने अनगार त्यागी और सागार गृहस्थ अवश्य हुए हैं जिन्होंने जैन परम्परा की मूर्छित-सी धर्मचेतना में स्पन्दन के प्राण फूँके। पर एक तो वह स्पन्दन साम्प्रदायिक ढंग का था जैसा कि अन्य सम्प्रदायों में हुआ है और दूसरे वह स्पन्दन ऐसा कोई दृढ़ नींव पर न था जिससे चिरकाल तक टिक सके। इसलिए बीच-बीच में प्रकट हुए धर्मचेतना के स्पन्दन अर्थात् प्रभावनाकार्य सतत चालू रह न सके।

पिछली शताब्दी में तो जैन समाज के त्यागी और गृहस्थ दोनों की मनोदशा विलक्षण-सी हो गई थी। वे परम्पराप्राप्त सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के आदर्श संस्कार की महिमा को छोड़ भी न सकते थे और जीवनपर्यन्त वे हिंसा, असत्य और परिग्रह के संस्कारों का ही समर्थन करते जाते थे। ऐसा माना जाने लगा था कि कुटुम्ब, समाज, ग्राम राष्ट्र आदि से संबन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ सांसारिक हैं, दुनियावी हैं, व्यावहारिक हैं। इसलिए ऐसी आर्थिक औद्योगिक और राजकीय प्रवृत्तियों में न तो सत्य साथ दे सकता है, न अहिंसा काम कर सकती है और न अपरिग्रह व्रत ही कार्यसाधक बन सकता है। ये धर्म सिद्धान्त सच्चे हैं सही, पर इनका शुद्ध पालन दुनिया के बीच संभव नहीं। इसके लिए तो एकान्त बनवास और संसार त्याग ही चाहिये। इस विचार ने अनगार त्यागियों के मन पर भी ऐसा प्रभाव जमाया था कि वे रात-दिन सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का उपदेश करते हुए भी दुनियावी-जीवन में उन उपदेशों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच्चे पालन का कोई रास्ता दिखा न सकते थे। वे थक कर यही कहते थे कि अगर सच्चा धर्म पालन करना हो तो तुम लोग घर छोड़ो, कुटुम्ब समाज और राष्ट्र की जवाबदेही छोड़ो, ऐसी जवाबदेही और सत्य-अहिंसा अपरिग्रह का शुद्ध पालन—दोनों एक साथ संभव नहीं। ऐसी मनोदशा के कारण त्यागी गण देखने में अवश्य अनगार था; पर उसका जीवन तत्त्वदृष्टि से किसी भी प्रकार गृहस्थों की अपेक्षा विशेष उन्नत या विशेष शुद्ध बनने न पाया था। इसलिए जैन समाज की स्थिति ऐसी हो गई थी कि हजारों की संख्या में साधु-साध्वियों के सतत होते रहने पर भी समाज के उत्थान का कोई सच्चा काम होने न पाता था और अनुयायी गृहस्थवर्ग तो साधु साध्वियों के भरोसे रहने का इतना आदी हो गया था कि वह हरएक बात में निकम्मी प्रथा का त्याग, सुधार, परिवर्त्तन वगैरह करने में अपनी बुद्धि और साहस ही गवाँ बैठा था। त्यागी वर्ग कहता था कि हम क्या करें? यह काम तो गृहस्थों का है। गृहस्थ कहते थे कि हमारे सिरमौर गुरु हैं। वे महावीर के प्रतिनिधि हैं, शास्त्रज्ञ हैं, वे हमसे अधिक जान सकते हैं, उनके सुझाव और उनकी सम्मति के बिना हम कर ही क्या सकते हैं? गृहस्थों का असर ही क्या पड़ेगा? साधुओं के कथन को सब लोग मान सकते हैं इत्यादि। इस तरह अन्य धर्म समाजों की तरह जैन समाज की नैया भी हर एक क्षेत्र में उलझनों की भँवर में फँसी थी।

सारे राष्ट्र पर पिछली सहस्राब्दी ने जो आफतें ढाई थीं और पश्चिम के सम्पर्क के बाद विदेशी राज्य ने पिछली दो शताब्दियों में गुलामी, शोषण और आपसी फूट की जो आफत बढ़ाई थी उसका शिकार तो जैन समाज शत-प्रतिशत था ही, पर उसके अलावा जैनसमाज के अपने निजी भी प्रश्न थे। जो उलझनों से पूर्ण थे। आपस में फिरकाबन्दी, धर्म के निमित्त अधर्म पोषक झगड़े, निवृत्ति के नाम पर निष्क्रियता और ऐदीपन की बाढ़, नई पीढ़ी में पुरानी चेतना का विरोध और नई चेतना का अवरोध, सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे शाश्वत मूल्य वाले सिद्धान्तों के प्रति सच की देखा देखी बढ़ती हुई अश्रद्धा—ये जैन समाज की समस्याएँ थीं।

इस अन्धकार प्रधान रात्रि में अफ्रिका से एक कर्मवीर की हलचल ने लोगों की आँखें खोली। वही कर्मवीर फिर अपनी जन्म-भूमि भारत में पीछे लौटा। आते ही सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह की निर्भय और गगनभेदी वाणी शान्त-स्वर से और जीवन-व्यवहार से सुनाने लगा। पहले तो जैन समाज अपनी संस्कार-च्युति के कारण चौंका। उसे भय मालूम हुआ कि दुनिया की प्रवृत्ति या सांसारिक राजकीय प्रवृत्ति के साथ सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का मेल कैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बैठ सकता है ? ऐसा हो तो फिर त्याग मार्ग और अनगार धर्म जो हजारों वर्ष से चला आता है वह नष्ट ही हो जाएगा। पर जैसे-जैसे कर्मवीर गांधी एक के बाद एक नए-नए सामाजिक और राजकीय क्षेत्र को सर करते गए और देश के उच्च से उच्च मस्तिष्क भी उनके सामने झुकाने लगे; कवीन्द्र रवीन्द्र, लाला लाजपतराय, देशबन्धु दास, मोतीलाल नेहरू आदि मुख्य राष्ट्रीय पुरुषों ने गांधीजी का नेतृत्व मान लिया। वैसे-वैसे जैन समाज की भी सुषुप्त और मूर्च्छित-सी धर्म चेतना में स्पन्दन शुरू हुआ। स्पन्दन की लहर क्रमशः ऐसी बढ़ती और फैलती गई कि जिसने ३५ वर्ष के पहले की जैन समाज की काया पलट ही दी। जिसने ३५ वर्ष के पहले की जैन-समाज की बाहरी और भीतरी दशा आँखों देखी है और जिसने पिछले ३५ वर्षों में गांधीजी के कारण जैन-समाज में सत्वर प्रकट होनेवाले सात्विक धर्म-स्पन्दनों को देखा है वह यह बिना कहे नहीं रह सकता कि जैन-समाज की धर्म चेतना—जो गांधीजी की देन है—वह इतिहास काल में अभूतपूर्व है। अब हम संक्षेप में यह देखें कि गांधीजी की यह देन किस रूप में है।

जैन-समाज में जो सत्य और अहिंसा की सार्वत्रिक कार्यक्षमता के बारे में अविश्वास की जड़ जमी थी, गांधीजी ने देश में आते ही सबसे प्रथम उस पर कुठाराघात किया। जैन लोगों के दिल में सत्य और अहिंसा के प्रति जन्मसिद्ध आदर तो था ही। वे सिर्फ प्रयोग करना जानते न थे और न कोई उन्हें प्रयोग के द्वारा उन सिद्धान्तों की शक्ति दिखाने वाला था। गांधीजी के अहिंसा और सत्य के सफल प्रयोगों ने और किसी समाज की अपेक्षा सबसे पहले जैन-समाज का ध्यान खींचा। अनेक बूढ़े तरुण और अन्य शुरू में कुतूहलवश और पीछे लगन से गांधीजी के आसपास इकट्ठे होने लगे। जैसे-जैसे गांधीजी के अहिंसा और सत्य के प्रयोग अधिकाधिक समाज और राष्ट्रव्यापी होते गए वैसे-वैसे जन-समाज को विरासत में मिली अहिंसावृत्ति पर अधिकाधिक भरोसा होने लगा और फिर तो वह उन्नत-मस्तक और प्रसन्न-वदन से कहने लगा कि 'अहिंसा परमो धर्मः' यह जो जैन परम्परा का मुद्रालेख है उसी की यह विजय है। जैन परम्परा स्त्री की समानता और मुक्ति का दावा तो करती ही आ रही थी; पर व्यवहार में उसे उसके अबलापन के सिवाय कुछ नजर आता न था। उसने मान लिया था कि त्यक्ता, विधवा और लाचार कुमारी के लिए एक मात्र बलप्रद मुक्तिमार्ग साध्वी बनने का है। पर गांधीजी के जादू ने यह साबित कर दिया कि अगर स्त्री किसी अपेक्षा से अबला है तो पुरुष भी अबल ही है। अगर पुरुष को सबल मान लिया जाए तो स्त्री के अबला रहते वह सबल बन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं सकता। कई अंशों में तो पुरुष की अपेक्षा स्त्री का बल बहुत है। यह बात गांधीजी ने केवल दलीलों से समझाई न थी पर उनके जादू से स्त्री-शक्ति इतनी अधिक प्रकट हुई कि अब तो पुरुष उसे अबला कहने में सकुचाने लगा। जैन स्त्रियों के दिल में भी ऐसा कुछ चमत्कारिक परिवर्तन हुआ कि वे अब अपने को शक्तिशाली समझकर जवाबदेही के छोटे-मोटे अनेक काम करने लगी और आमतौर से जैन-समाज में यह माना जाने लगा कि जो स्त्री ऐहिक बन्धनों से मुक्ति पाने में समर्थ है वह साध्वी बनकर भी पारलौकिक मुक्ति पा नहीं सकती। इस मान्यता से जैन बहनों के सूखे और पीले चेहरे पर सुर्खी आ गई और वे देश के कोने-कोने में जवाबदेही के अनेक काम सफलतापूर्वक करने लगीं। अब उन्हें त्यक्तापन, विधवापन या लाचार कुमारीपन का कोई दुःख नहीं सताता। यह स्त्री-शक्ति का कायापलट है। यों तो जैन लोग सिद्धान्त रूप से जातिभेद और छुआछूत को बिलकुल मानते न थे और इसी में अपनी परम्परा का गौरव भी समझते थे; पर इस सिद्धान्त को व्यापक तौर से वे अमल में लाने में असमर्थ थे। गांधीजी की प्रायोगिक अंजनशलाका ने जैन समझदारों के नेत्र खोल दिए और उनमें साहस भर दिया फिर तो वे हरिजन या अन्य दलितवर्ग को समान भाव से अपनाने लगे। अनेक बूढ़े और युवक स्त्री-पुरुषों का खास एक वर्ग देश भर के जैन समाज में ऐसा तैयार हो गया है कि वह अब रूढ़ि-ग्रस्त मानस की बिलकुल परवाह बिना किये हरिजन और दलित वर्ग की सेवा में या तो पड़ गया है, या उसके लिए अधिकाधिक सहानुभूतिपूर्वक सहायता करता है।

जैन-समाज में महिमा एक मात्र त्याग की रही; पर कोई त्यागी निवृत्ति और प्रवृत्ति का सुमेल साध न सकता था। वह प्रवृत्ति मात्र को निवृत्ति विरोधी समझकर अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसी प्रवृत्ति का बोझ भी दूसरों के कन्धे पर डालकर निवृत्ति का सन्तोष अनुभव करता था। गांधीजी के जीवन ने दिखा दिया कि निवृत्ति और प्रवृत्ति वस्तुतः परस्पर विरुद्ध नहीं है। जरूरत है तो दोनों के रहस्य पाने की। समय प्रवृत्ति की माँग कर रहा था और निवृत्ति की भी। सुमेल के बिना दोनों निरर्थक ही नहीं बल्कि समाज और राष्ट्र-घातक सिद्ध हो रहे थे। गांधीजी के जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति का ऐसा सुमेल जैन समाज ने देखा जैसा गुलाब के फूल और सुवास का। फिर तो मात्र गृहस्थों की ही नहीं, बल्कि त्यागी अनगारों तक की आँखें खुल गईं। उन्हें अब जैन शास्त्रों का असली मर्म दिखाई दिया या वे शास्त्रों को नए अर्थ में नए सिरे से देखने लगे। कई त्यागी अपना भिक्षुवेष रखकर भी या छोड़कर भी निवृत्ति प्रवृत्ति के गंगा-यमुना संगम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्नान करने आए और वे अब भिन्न-भिन्न सेवा क्षेत्रों में पड़कर अपना अनगारपना सच्चे अर्थ में साबित कर रहे हैं। जैन गृहस्थ की मनोदशा में भी निष्क्रिय निवृत्ति का जो घुन लगा था वह हटा और अनेक बूढ़े जवान निवृत्ति-प्रिय जैन स्त्री-पुरुष निष्काम प्रवृत्ति का क्षेत्र पसन्द कर अपनी निवृत्ति-प्रियता को सफल कर रहे हैं। पहले भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए एक ही रास्ता था कि या तो वे वेष धारण करने के बाद निष्क्रिय बनकर दूसरों की सेवा लेते रहें, या दूसरों की सेवा करना चाहें तो वेष छोड़कर अप्रतिष्ठित बन समाजबाह्य हो जाएँ। गांधीजी के नए जीवन के नए अर्थ ने निष्प्राण से त्यागी वर्ग में भी धर्मचेतना का प्राण स्पन्दन किया। अब उसे न तो जरूरत रही भिक्षुवेष फेंक देने की और न डर रहा अप्रतिष्ठित रूप से समाजबाह्य होने का। अब निष्काम सेवाप्रिय जैन भिक्षुगण के लिए गांधीजी के जीवन ने ऐसा विशाल कार्यप्रदेश चुन दिया है, जिसमें कोई भी त्यागी निर्दम्भ भाव से त्याग का आस्वाद लेता हुआ समाज और राष्ट्र के लिए आदर्श बन सकता है।

जैन परम्परा को अपने तत्त्वज्ञान के अनेकान्त सिद्धान्त का बहुत बड़ा गर्व था वह समझती थी कि ऐसा सिद्धान्त अन्य किसी धर्म परम्परा को नसीब नहीं है; पर खुद जैन परम्परा उस सिद्धान्त का सर्वलोकहितकारक रूप से प्रयोग करना तो दूर रहा, पर अपने हित में भी उसका प्रयोग करना जानती न थी। वह जानती थी इतना ही कि उस वाद के नाम पर भंगजाल कैसे किया जा सकता है और विवाद में विजय कैसे पाया जा सकता है? अनेकान्तवाद के हिमायती क्या गृहस्थ क्या त्यागी सभी फिरकेबन्दी और गच्छ-गण के ऐकान्तिक कदाग्रह और झगड़े में फँसे थे। उन्हें यह पता ही न था कि अनेकान्त का यथार्थ प्रयोग समाज और राष्ट्र की सब प्रवृत्तियों में कैसे सफलतापूर्वक किया जा सकता है? गांधीजी तख्ते पर आए और कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र की सब प्रवृत्तियों में अनेकान्त दृष्टि का ऐसा सजीव और सफल प्रयोग करने लगे कि जिससे आकृष्ट होकर समझदार जैनवर्ग यह अन्तःकरण से महसूस करने लगा कि भङ्गजाल और वादविजय में तो अनेकान्त का कलेवर ही है। उसकी जान नहीं! जान तो व्यवहार के सब क्षेत्रों में अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग करके विरोधी दिखाई देने वाले बलों का संघर्ष मिटाने में ही है।

जैन-परम्परा में विजय सेठ और विजया सेठानी इन दम्पती युगल के ब्रह्मचर्य की बात है। जिसमें दोनों का साहचार्य और सहजीवन होते हुए भी शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन का भाव है। इसी तरह स्थूलिभद्र मुनि के ब्रह्मचर्य की भी कहानी है जिससे एक मुनि ने अपनी पूर्वपरिचित वेश्या के सहवास में रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया है। अभी तक ऐसी कहानियाँ लोकोत्तर समझी जाती रहीं। सामान्य जनता यही समझती रही कि कोई दम्पती या स्त्री-पुरुष साथ रहकर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह दैवी चमत्कार जैसा है। पर गांधीजी के ब्रह्मचर्यवास ने इस अति कठिन और लोकोत्तर समझी जानेवाली बात को प्रयत्नसाध्य पर इतनी लोकगम्य साबित कर दिया कि आज अनेक दम्पती और स्त्री-पुरुष साथ रहकर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्दम्भ प्रयत्न करते हैं। जैन समाज में भी ऐसे अनेक युगल मौजूद हैं। अब उन्हें कोई स्थूलिभद्र की कोटि में नहीं गिनता। हालाँकि उनका ब्रह्मचर्य-पुरुषार्थ वैसा ही है। रात्रि-भोजन त्याग और उपभोगपरिभोगपरिमाण तथा उपवास, आयंबिल, जैसे व्रत-नियम नए युग में केवल उपहास की दृष्टि से देखे जाने लगे थे और श्रद्धालु लोग इन व्रतों का आचरण करते हुए भी कोई तेजस्विता प्रकट कर न सकते थे। उन लोगों का व्रत-पालन केवल रूढ़िधर्म-सा दीखता था। मानों उनमें भावप्राण रहा ही न हो। गांधीजी ने इन्हीं व्रतों में ऐसा प्राण फूँका कि आज कोई इनके मखौल का साहस नहीं कर सकता। गांधीजी के उपवास के प्रति दुनिया-भर का आदर है उनके रात्रि भोजन त्याग और इने-गिने खाद्य पेय के नियम को आरोग्य और सुभीते की दृष्टि से भी लोग उपादेय समझते हैं। हम इस तरह की अनेक बातें देख सकते हैं जो परम्परा से जैन समाज में चिरकाल से चली आती रहने पर भी तेजोहीन-सी दीखती थी; पर अब गांधीजी के जीवन ने उन्हें आदरास्पद बना दिया है।

जैन परम्परा के एक नहीं अनेक सुसंस्कार जो सुप्त या मूर्च्छित पड़े थे उनको गांधीजी की धर्म चेतना ने स्पन्दित किया, गतिशील किया और विकसित भी किया। यही कारण है कि अपेक्षाकृत इस छोटे से समाज ने भी अन्य समाजों की अपेक्षा अधिकसंख्यक सेवाभावी स्त्री-पुरुषों को राष्ट्र के चरणों पर अर्पित किया है। जिसमें बूढ़े-जवान स्त्री-पुरुष, होनहार तरुण-तरुणी और भिक्षु वर्ग का भी समावेश होता है।

मानवता के विशाल अर्थ में तो जैन समाज अन्य समाजों से अलग नहीं। फिर भी उसके परम्परागत संस्कार अमुक अंश में इतर समाजों से जुदे भी हैं। ये संस्कार मात्र धर्मकलेवर थे; धर्मचेतना की भूमिका को छोड़ बैठे थे। यों तो गांधीजी ने विश्व भर के समस्त सम्प्रदायों की धर्म चेतना को उत्प्राणित किया है; पर साम्प्रदायिक दृष्टि से देखें तो जैन समाज को मानना चाहिए कि उनके प्रति गांधीजी की बहुत और अनेकविध देन है। क्योंकि गांधीजी की देन के कारण ही अब जैन समाज अहिंसा, स्त्री-समानता, वर्ग समानता, निवृत्ति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकान्त दृष्टि इत्यादि अपने विरासतगत पुराने सिद्धान्तों को क्रियाशील और सार्थक साबित कर सकता है।

जैन परम्परा में 'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै' जैसे सर्वधर्म-समन्वयकारी अनेक उद्‌गार मौजूद थे। पर आमतौर से उसकी धर्मविधि और प्रार्थना बिलकुल साम्प्रदायिक बन गई थी। उसका चौका इतना छोटा बन गया था कि उसमें उक्त उद्‌गार के अनुरूप सब सम्प्रदायों का समावेश दुःसंभव हो गया था। पर गांधीजी की धर्मचेतना ऐसी जागरित हुई कि धर्मों की बाड़ा-बँदी का स्थान रहा ही नहीं। गांधीजी की प्रार्थना जिस जैन ने देखी सुनी हो वह कृतज्ञतापूर्वक बिना कबूल किये रह नहीं सकता कि 'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा' की उदात्त भावना या 'राम कहो रहिमान कहो' की अभेद भावना जो जैन परम्परा में मात्र साहित्यिक वस्तु बन गई थी; उसे गांधीजी ने और विकसित रूप में सजीव और शाश्वत किया।

हम गांधीजी की देन को एक-एक करके न तो गिना सकते हैं और न ऐसा भी कर सकते हैं कि गांधीजी की अमुक देन तो मात्र जैन समाज के प्रति ही है और अन्य समाज के प्रति नहीं। वर्षा होती है तब क्षेत्रभेद नहीं देखती। सूर्य चन्द्र प्रकाश फेंकते हैं तब भी स्थान या व्यक्ति का भेद नहीं करते। तो भी जिसके घर में पानी आया और जिसने प्रकाश का सुख अनुभव किया, वह तो लौकिक भाषा में यही कहेगा कि वर्षा या चन्द्र सूर्य ने मेरे पर इतना उपकार किया। इसी न्याय से इस जगह गांधीजी की देन का उल्लेख है, न कि उस देन की मर्यादा का।

गांधीजी के प्रति अपने ऋण को अंश से भी तभी अदा कर सकते हैं जब उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प करें और चलें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org